REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 9 | ISSUE - 7 | APRIL - 2020

केदारनाथ सिंह के संग्रह 'सृष्टि पर पहरा' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
असि. प्रोफेसर : हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, पचवस–बस्ती

शोध–सार :

यह शोध–पत्र केदारनाथ सिंह के काव्य–संग्रह 'सृष्टि पर पहरा' का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है, जिसमें समकालीन हिन्दी कविता के परिप्रेक्ष्य में प्रकृति, मनुष्य और समय के अंतर्संबंधों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इस काव्य–संग्रह में कवि ने सृष्टि, पर्यावरण, मानवीय अस्तित्व और सांस्कृतिक स्मृति के प्रश्नों को अत्यंत संवेदनशीलता और वैचारिक गहराई के साथ अभिव्यक्त किया है। 'सृष्टि पर पहरा' शीर्षक ही आधुनिक समय में प्रकृति पर बढ़ते संकट, मनुष्य के हस्तक्षेप और पर्यावरणीय असंतुलन की ओर संकेत करता है। कविताओं में ग्रामीण जीवन, लोक–संस्कृति और आधुनिक जीवन की जटिलताओं के बीच एक सृजनात्मक तनाव दिखाई देता है, जो कवि की विशिष्ट काव्य–दृष्टि को उजागर करता है। उनकी भाषा बिंबात्मक, प्रतीकात्मक और संवादधर्मी है, जो साधारण वस्तुओं और अनुभवों को भी गहरे दार्शनिक अर्थ प्रदान करती है। यह अध्ययन निष्कर्षतः स्थापित करता है कि यह काव्य–संग्रह समकालीन हिन्दी कविता में प्रकृति–चेतना, मानवीय संवेदना और सांस्कृतिक पहचान के प्रश्नों को प्रभावी ढंग से सामने लाता है।

कुंजी शब्द : समकालीन हिन्दी कविता, केदारनाथ सिंह, सृष्टि–बोध, प्रकृति–चेतना, पर्यावरण, मानवीय संवेदना, बिंबात्मकता, लोक–संस्कृति, समय–बोध, काव्यभाषा

> *(पढ़ने की प्रक्रिया में बिस्तर पर छूटी यह किताब अचानक नन्ही बेटी के हाथ लग गयी। किताब एक ऐसे मित्र की थी, जो किताबें बहुत सलीके से रखने के आदी हैं। आशंका से डरा हुआ मैं हर पन्ना पलट–पलट कर देख रहा था कि अबोध बच्ची से कोई नुकसान तो नहीं हुआ। दिखा यह कि पृष्ठ 91 पर लिखे हुए 'समुद्र' शब्द पर बेटी के छोटे से नाखून का निशान लगा था; समुद्र थोड़ा सा फट गया था, सारी कविताएँ एक अनाम जल से भीग गयी थीं, मैंने उन भीगी हुई कविताओं को पढ़ा है, यह लिखा हुआ उन पर ही है)*

जब अपनी भाषा के वरिष्ठ कवियों में से किसी एक को पढ़ते हुए यह लगे कि आप किसी बिल्कुल तरुण कवि को पढ़ रहे हैं, तो कविता पढ़ने की आपकी सारी पूर्व की तैयारी अचानक फुस्स हो जाती है। गलती से जो जिरह–बख्तर आपने पहन लिया था, वे सारे औजार जो आपने कांधे पर टांग लिये थे, सब के सब अचानक गैरज़रूरी साबित होने लगते हैं। अब तक आये संग्रहों की स्मृति से जानबूझकर निष्कर्षित कर लिये गये वैचारिक प्रलाप, इधर–उधर पढ़ी हुई सैकड़ों समीक्षाएँ आदि एक ऐसे शाब्दिक कबाड़ की तरह लगने लगती हैं, जिनकी न सिर्फ इन कविताओं का आस्वाद लेने के लिए कोई ज़रूरत नहीं है बल्कि बहती हुई इन कविताओं के प्रवाह में उनकी हैसियत धार रोकने की कोशिश करती चट्टानों से अधिक नहीं दिखती (इस तरह

इन कविताओं पर मेरा भी लिखा, हो सकता है एक 'शिलालेख' से ज़्यादा कुछ न हो)। इतना ही नहीं, एक साधारण कवि का अपने अग्रज की इन कविताओं को पढ़ने के प्रयास में जिस पूर्वाग्रह, तथाकथित आदर भाव और विनम्र संकोच को बरतने का अभ्यास सहज ही होता, वह भी फिजूल ही लगने लगा। दरअसल, 'सृष्टि पर पहरा' की कविताएँ एक अनूठी डूब पैदा करती हैं, जहाँ बुड़ान कहाँ कितनी है, बिना पता किये चलते रहने में ही मजा है।

''सदियों पुरानी एक छोटी सी पंक्ति/और उसमें इतना ताप/कि लगभग पांच सौ वर्षों से हिला रही है हिन्दी को''

सदियों पहले एक कवि की 'पनही' टूट गयी थी, उसका दुःख पीढ़ी–दर–पीढ़ी हिन्दी कविता में रिस रहा है। पीड़ा का यह रिसाव प्रतिरोध की हर इबारत को रंग देता है, लेकिन इस 'पंक्ति के ताप' को कवि जिस तरह महसूस करता है और एक प्रश्नाकुल कविता में तब्दील करता है वह उल्लेखनीय है। 'कवि कुम्भनदास के प्रति' कविता में कुम्भन के दुःखों को के बहाने कविता और सत्ता के सतत विरोधी चरित्र को कवि रेखांकित करता है। 'सीकरी' और 'दिल्ली' के प्रतीक इतने सहज और समर्थ हैं, कि पांच सौ सालों का अन्तराल मिटता हुआ दिखता है। जिस कवि का शरीर दिल्ली में और मन गांव में रहता हो उसके लिए, इस नयी सीकरी (जिसके भीतर भी कई सीकरियाँ हैं) को बार–बार लौटने की विवशता पीड़ा का एक नया अध्याय है। यहाँ लगता है कि कविता और सत्ता के बीच की दूरी कभी न मिटे तो ठीक, पनहियाँ टूटती रहें, नहीं टूटेंगी तो कवि की पीड़ा और कविता का ताप दोनों खत्म हो जायेंगे।

''इतना तय है कि ठंड के विरुद्ध/आदमी ने ही खोजा होगा/पृथ्वी पर पहला कपास का फूल .... पर क्या कभी सोचा है आपने/वह जो आपकी कमीज है/किसी खेत में खिला एक कपास का फूल है/जिसे पहन रखा है आपने''

'कपास के फूल' शीर्षक यह कविता चाहे–अनचाहे संग्रह की एक दूसरी कविता 'विद्रोह' से जुडती है, जहां फर्नीचर से लेकर किताबें और शॉल तक अपने मूल स्रोतों में वापस चले जाना चाहते हैं। हम जिस समय में जी रहे हैं वहां चीज़ों की मूल पहचान गुम हो गयी है, नयी पीढ़ी के बच्चे इस पैकेज्ड और प्रोसेस्ड समय में बहुत सारी चीज़ों के वास्तविक उद्‌गम से अपरिचित ही रह जायेंगे। जड़ दिखती चीज़ों के इन प्रतीकों के प्रतिरोध के माध्यम से कवि अपने भीतर के विद्रोह की दबी हुई ध्वनियों को स्वर देता है। यह कवि के भीतर की एक खलबली है, लगातार गूँजती हुई एक आवाज़, जिससे घबराकर कवि अपने अन्तर्मन की देहरी को पार करना चाहता है, तो दरवाजा कड़क कर उससे पूछता है– ''आप कहां जा रहे हैं''।

''हस्तप्राप्यतृणोज्झितारू प्रतिपयोवृत्तिस्खलदिभत्तयो दूरालम्बितदारुदन्तुरमुखाः पर्यन्तवल्लीवृताः'' (यह मेरा घर है/हाथ में आया तिनका भी/टिक नहीं पाता इसमें रहकर/हर बरसात में इसमें दीवारें ढहती जाती हैं/बहुत नीचे तक झुक आई बल्लियों से/दाँत निपोरता है मेरा घर/चारों ओर से इसे जकड़ रखा है बेलों ने)1

''उग रहा है दरो दीवार पे सब्ज़ा गालिब, हम बयाबाँ में हैं घर में बहार आयी है''

इन दोनों उद्धरणों की ज़रूरत 'घास' कविता के सिलसिले में पेश आयी है। *''तुम्हारे घर के किले में/बस एक ज़रा–सा सूराख उसे चाहिए/कि वह घुस जाये अन्दर/जैसे ग़ालिब के घर में घुस आया था सब्ज़ा/और अपने भरे बियाबान में/हँस रहे थे वे!''* घास के पक्ष में मतदान का संकल्प लेता हुआ कवि जब उसके उगने की जिद को दुनिया की खूबसूरत जिद घोषित करता है तो अनायास ही मन इन दोनों उद्धरणों पर जाता है। वह कैसी दुनिया थी, जिसमें संस्कृत का एक अनाम कवि अपने उस घर पर गर्व कर रहा है, जहां ढहती हुई दीवारों के बीच बेलों की जकड़न है, ... कैसी दुनिया थी जिसमें उर्दू का एक कवि अपने घर की दीवारों पर वनस्पतियों के उग आने से बेपरवाह मौज में है। आज जब हम अपने चमकदार घरों को चारों ओर से सुरक्षित और सुन्दर बनाने के अथक जतन में लगे हुए होते हैं तो दरअसल हम एक छोटी सी पत्ती से दूर हो रहे होते हैं। यहां कवि खुद को झिड़कते हुए आदमी के जनतंत्र पर घास के सवाल पर एक बहस की प्रस्तावना रचता है। 'घर' की इस आत्मीय संकल्पना से जुड़ती है कवि की एक अन्य कविता 'घर में प्रवास', जो भी दरअसल घर की सम्पूर्णता के उस पुराने सोच का ही प्रतिबिम्ब है। घर में रह रहे कबूतरों की गुनगुनायी उस ग़ज़ल में कवि को उसके पितरों की आवाज़ सुनाई देती है, जो केवल स्मृतिजीविता नहीं है बल्कि कवि के शब्दों में 'अपने ही घर में एक आधुनिक का आदिम प्रवास है'।

'एक पुरबिहा का आत्मकथ्य' इस संग्रह की एक बेहद ज़रूरी कविता है। ''हर गिरा ख़ून अपने अँगौछे से पोंछता/मैं वही पूरबिहा हूँ/जहाँ भी हूँ'' जैसी रोमांचित कर देने वाली पंक्तियों से इस कविता की बुनावट पूरी होती है। पूरब के आदमी के प्रति जिस तरह का दुत्कार और अविश्वास हाल के दिनों में उभरा है, यह कविता उस का एक प्रति आख्यान रचती है। जिस मिट्टी, जिस पानी, जिस भाषा से सिंचकर पूरब के आदमी की निर्मित सम्भव होती है, उसका संवेदनशील होना लाज़मी है। गीता–शैली में लिखी यह कविता पूरब के हवा–पानी को कवि की ओर से दिया गया धन्यवाद है।

''कौन कह सकता है/इसके अन्तिम वर्ण 'ह' में/कितनी हंसी है/कितना हाहाकार है'' कवि की अन्य कविता है 'देवनागरी', जिसमें कवि हर वर्ण में अपने लोगों की दुनिया में सम्भव होते हुए भाव–सम्बन्धों की कल्पना करता है। लेकिन इन पंक्तियों में सबसे महत्वपूर्ण है– ''अक्षर में झांककर/वहाँ रोशनाई के तल में/एक ज़रा–सी रोशनी/तुम्हें हमेशा दिखाई पड़ेगी''; यहां कवि चुम्बन, प्रतिरोध और सिसकी से गुज़रते हुए किसी लिखते हुए हाथ की तकलीफ़ तक पहुँचता है। भाषा और लिपि की ताक़त से मनुष्यता की पीड़ा तक पहुँचने की यह कोशिश की असली और ज़रूरी कविता की पहचान है।

इस संग्रह में कुछ कवितायें व्यक्तियों पर लिखी और व्यक्तियों को समर्पित हैं, इन कविताओं में सबसे ज़्यादा ध्यान खींचती है 'चीना बाबा' पर लिखी कविता 'मंच और मचान' कविता जो कथाकार उदयप्रकाश को समर्पित है। पेड़ पर मचान बनाकर रहने वाले एक आदमी की कहानी के माध्यम से कवि पेड़ के बारे में बात करता है, राष्ट्राध्यक्षों के बारे में बात करता है, घर के बारे में बात करता है, और विस्थापन के बारे में बात करता है। ''पहली चोट के बाद ऐसा लगा/जैसे लोहे ने झुककर/पेड़ से कहा– 'माफ करना भाई, कुछ हुक्म ही ऐसा है'!'' जैसी पंक्तियाँ अवसाद और संवेदना का एक मिश्रित रसायन रचती हैं, जो हमें एक मृत्युगंध से गुजारते हुए तन्द्रा में ले जाती हैं। प्रो. वरयाम सिंह, कवि देवेन्द्र कुमार, ज्यां पाल सार्त्र, हीरा भाई आदि पर लिखी गयी कवितायें भी संग्रह की उपलब्धि हैं।

हिन्दी के दो बड़े कवियों– 'निराला' और 'त्रिलोचन' पर लिखी कवितायें इस संग्रह में संकलित हैं। इन कविताओं में इन कवियों के प्रति रचनाकार के गहन श्रद्धाभाव के साथ उनके व्यक्तित्व की गहरी समझ के संकेत मिलते हैं। 'निराला की आवाज़' कविता में कवि का यह कहना– *''ख़ालिस आवाज/मेरी स्मृति की चट्टानों में/गूंजती/टकराती/पछाड़ खाली आवाज़''* कवि निराला की स्मृति को सजीव कर देता है। ठीक इसी तरह 'त्रिलोचन को पढ़ना' कविता में *'वैसे कोई डर ना/पर डरना भाई डरना/गिर न पड़े ऊपर/कहीं कोई झरना!''* सरीखी पंक्तियों से कवि त्रिलोचन की कविता के मिज़ाज की वास्तविक व्याख्या करते हुए उनको पढ़ने के अनुभव में मौजूद लोक–गंध के अद्भुत आस्वाद को मूर्त्त करता है।

केदारनाथ सिंह के कवि की विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी लम्बी काव्ययात्रा में शिल्प को बहुत प्रयोग नहीं किये हैं। वे अपनी कविता में भाषा के अनूठे बरताव, वर्ण ध्वनियों की सहज संगति और अद्भुत बिम्बों के संयोजन से चमत्कार रचते हैं और विशेष यह कि इसका कौशल उनके कहन में सहज रूप से विन्यस्त है, इसके लिए वे प्रयास करते हुए भी नहीं दिखते। हिन्दी कविता में ऐसे कम कवि हैं, जिन्होंने अपनी काव्ययात्रा में शिल्प के नवाचार को लेकर इतनी बेपरवाही बरती हो, फिर भी लगातार न सिर्फ अच्छी बल्कि महत्वपूर्ण कविताएं लिखते रहे हों। केदारनाथ सिंह हिन्दी कविता में बिरले कवि हैं, जिन्होंने शिल्प की बेवजह बाजीगरी की जगह सहज अभिव्यक्ति और काव्य–विषयों की व्यापकता को महत्व दिया है।

ऐसे ही एक नायाब विषय पर लिखी गयी कविता 'नदी का स्मारक', संग्रह में शामिल एक अनूठी कविता है। चीज़ों के रिसाइकल किये जाने और उन्हें तुरन्त 'डिसपोज़ आफ़' किये जाने के इस स्मृतिहीन समय में एक अनुपयोगी, जर्जर और ढांचे में तब्दील हो चुकी चीज़ को बचाये रखने का आग्रह एक अनोखी परिघटना है। *''काठ का जर्जर ढांचा ही सही/पर रहने दो 'नाव' को/अगर वह वहां है/तो एक न एक दिन/लौट आयेगी नदी''*, जैसी पंक्तियों के माध्यम से कवि एक असम्भव सी लगने वाली निर्दोष उम्मीद को अपनी कविता में जगह देता है। कविता में दिखने वाली यह उम्मीद ही हमारे समय की रोशनी की लीक है, अंधेरे के खिलाफ़ प्रतिरोध की अकेली गुंजाइश, इस गुंजाइश को बचाने की बेहद ज़रूरत है।

चीज़ों पर लिखी कविताओं में 'गमछा और तौलिया' आकार में छोटी मगर विस्तृत फलक को समेटती हुई कविता है। दो अलग–अलग संस्कृतियों से आने वाले वस्त्रों का एक तार पर सूखना वैश्वीकरण के माहौल में हर महानगर में सम्भव होते सांस्कृतिक फ्यूज़न का प्रतीक है। गांव से शहर को पलायित हुए लोग शहरी

बाना अपनाने के बाद भी अपने भीतर कहीं उस देसीपन को 'गमछे' में बचाए हुए हैं। गमछे और तौलिये के माध्यम से हिन्दी और अंग्रेजी का समानांतर प्रतीक रचते हुए कवि जिस सांस्कृतिक बहुलता की पहचान करता है वह परस्पर विरोधी तत्वों की बुनावट के बावजूद जैसा एक स्थायी रूपक हमारे समाज में ग्रहण कर रही है, वह बेहद रोचक भी है और परम्परा–विमर्श के नये मुहावरों के लिए एक चुनौती भरा प्रश्न भी।

कुछ अन्य कविताओं की भी चर्चा आवश्यक है, जैसे– 'पाँव' कविता; जहां कवि कहता है– *''कभी पढ़ना ध्यान से/रास्ते वे पंक्तियां हैं/जिन्हें लिखकर/भूल गये हैं पांव''* इस नये दौर में निरन्तर चलते रहने को अभिशप्त पांवों में जंजीरों की आवाज़ के आकर्षण का प्रतीक एक अनोखी व्याख्या है। इसी तरह 'चुप्पियाँ' कविता में सन्नाटे के बीच एक बोलते हुए कुत्ते को बोलने देने की कवि की अरज भी सोचने पर विवश करती है। 'अन्न संकट' के बीच एक किसान के बेटे का विरोध में घर के भीतर दबी राख से एक पुराने दाने को शोर की तरफ फेंकना रोंगटे खड़े कर देने वाला बिम्ब है। संग्रह की 'लौटते हुए बगुले' कविता से अचानक कवि के चौथे संग्रह 'अकाल में सारस' की शीर्षक कविता की याद आ जाती है। उस कविता में 'डैनों से झरती हुई धान की सूखी पत्तियों की गंध' आज तक विचलित करती है, इस कविता में बगुले (खेत मजूरों के प्रतीक) हैं, जो दिनभर के बाद मिले कीड़े–केंचुए को गठरी में सम्भाले अपने निर्दोष पंखों के साथ शाम को घर लौट रहे हैं। इसी तरह 'जहां से अनहद शुरू होता है', 'भोजपुरी', 'कन्धे की मृत्यु', 'जैसे दिया सिराया जाता है' जैसी कई कविताएँ हैं जो समान रूप से महत्वूपर्ण और चर्चा की हकदार हैं।

अन्त में, संग्रह की शीर्षक कविता 'सृष्टि पर पहरा' की चर्चा बेहद ज़रूरी है। यह कविता आज के समय में मौजूद सूक्ष्मतम प्रतिरोध को ताकत देती है। आज के मुश्किल समय में जब साम्राज्यवादी ताकतों के विराट गठजोड़ की गरम हवाओं ने प्रतिरोध के अंकुरों को सूखने पर विवश कर दिया है, तो 'विकट सुखाड़ में/सृष्टि पर पहरा दे रहे/तीन–चार पत्ते' एक बड़ी उम्मीद का रूपक रचते हैं। इस मुश्किल समय में जब उम्मीद के सारे रास्ते बन्द दिख रहे हों, प्रतिरोध और वैचारिकता की गहरी कमी पूरी सामाजिक समझ पर व्याप्त दिख रही हो। छद्म आधुनिकता के बीच उपजती एक नयी वैयक्तिक जीवन–शैली के बीच जब वह सबकुछ जो 'शक्ति' और 'सत्ता' से विहीन है, झरता जा रहा हो, इन कोपलों को हिलना दरअसल प्रतिरोध के किले पर झण्डों का हिलना है। ये पत्ते पहरुए हैं हमारे जीवन और मनुष्यता के अनथक और लगातार 'सृष्टि' पर पहरा देते हुए।

संदर्भ–ग्रंथ–सूची :

1. केदारनाथ सिंह. (2014). सृष्टि पर पहरा. राजकमल प्रकाशन।
2. केदारनाथ सिंह. (2009). प्रतिनिधि कविताएँ. राजकमल प्रकाशन।
3. केदारनाथ सिंह. (1983). जमीन पक रही है. राजकमल प्रकाशन।
4. केदारनाथ सिंह. (1995). यहाँ से देखो. राजकमल प्रकाशन।
5. केदारनाथ सिंह. (2000). उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ. राजकमल प्रकाशन।
6. नंदकिशोर नवल. (2004). समकालीन हिन्दी कविता. वाणी प्रकाशन।
7. डॉ. नगेंद्र. (1998). आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ. नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
8. रामदरश मिश्र. (2011). हिन्दी कवितारू आधुनिक आयाम. वाणी प्रकाशन।
9. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी. (2012). समकालीन हिन्दी कविता का परिदृश्य. भारतीय ज्ञानपीठ।
10. परमानन्द श्रीवास्तव. (2001). कविता का वर्तमान. वाणी प्रकाशन।
11. मलयज. (1984). कविता से साक्षात्कार. राजकमल प्रकाशन।
12. विजयदेव नारायण साही. (1990). कविता के नए प्रतिमान. वाणी प्रकाशन।
13. लक्ष्मीकांत वर्मा. (1997). आधुनिक हिन्दी कविता. लोकभारती प्रकाशन।
14. त्रिपाठी राधावल्लभ. (2000). संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा, रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा।